



## International Journal of Arts & Education Research

### ‘धर्म’ व ‘मोक्ष’ की सिद्धि का उपाय ‘अर्थ’ व ‘काम’

प्रवीन कुमार\*<sup>1</sup>

<sup>1</sup>शोध छात्र, साईं नाथ विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड।

स र

देव संस्रौति का एक-एक पक्ष इतना सर्वांगपूर्ण है कि देखकर आश्चर्य होता है कि वैदिककालीन ऋषिगणों ने मानव मात्र के अभ्युदय- लौकिक व पारलौकिक प्रगति के एक भी पहलू को अछूता नहीं छोड़ा है। धर्माचरण व उसके लिए व्यक्ति का अन्तर्मुखी होकर परिष्कृत संवेदनशील जीवन जीना ऋषियों ने अनिवार्य बताया है। ब्राह्मणत्व की यह सिद्धि व्यक्ति को ब्रह्मनिष्ठ बनाती हुई उसकी निज की प्रगति के साथ-साथ सबके उत्थान का पथ प्रशस्त करती है। भारतीय संस्रौति के प्रणेता मनीषी कहते हैं कि ‘अर्थ’ व ‘काम’ दोनों का ही उपार्जन- उपभोग करो, पर प्रमाण से सँभलकर, ‘धर्म’ के साथ युक्त होकर। अध्यात्मवादी भौतिकता का समर्थन करने वाली भारतीय संस्रौति कहती है जिस ‘अर्थ’ के अनुष्ठान से ‘धर्म’ व ‘काम’ का उद्भास हो जाए व जिस ‘काम’ को संपादन से ‘धर्म’ व ‘अर्थ’ में बाधा पड़े ऐसा पुरुषार्थ सम्पन्न न किया जाए। ‘अर्थ’ व ‘काम’ को ऋषियों ने दोनों ओर ‘धर्म’ और ‘मोक्ष’ से बाँध दिया है। कामशास्त्र के उपदेष्टा महर्षि वात्सायन “कामसूत्र” में लिखते हैं-

“लोकयात्राया हस्तगतस्य च बीजस्य भविष्यतः

सस्यस्यार्थे त्याग दर्शनाच्चरेद्धर्मान्।”

अर्थात् “जैसे हाथ में आए हुए अन्न (बीज) को भविष्य में होने वाले बहुत से अनाज के लोभ से त्याग दिया जाता है (अर्थात् जमीन में बो दिया जाता है) उसी प्रकार ‘मोक्ष’ के लिए ‘अर्थ’ और काम को संकुचित करके भी, ‘धर्म’ का सेवन करना चाहिए।”

कितना स्पष्ट विज्ञान सम्मत व्यावहारिक दृष्टिकोण है। वात्सायन का जिनके नाम व नीति वाक्यों का आज के भोगवादी मानव ने सबसे अधिक दुरुपयोग किया है।

सबसे पहले अर्थ के प्रसंग को लिया जाय। “अर्थ” से भावार्थ है सम्पदा के उत्पादन व वितरण की सुनियोजित प्रणाली ताकि समग्र समाज में सुख-शांति व धर्मनिष्ठा जीवन्त रहे। अर्थ के अभाव में प्रगति की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। शुक्राचार्य नीति में महर्षि कहते हैं-

अर्थात् धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेत्प्रणाम्।

शस्त्रास्त्राभ्यां बिना शैर्यं गार्हस्थ्यं तु स्त्रियं बिना। (शुक्रा.नीति 1-14)

यानी “जैसे शस्त्रास्त्र के बिना शूरता नहीं सफल हो सकती है, जैसे स्त्री के बिना गृहस्थ नहीं निभ सकता, वैसे ही ‘अर्थ’ के बिना ‘धर्म’ और ‘मोक्ष’ दोनों ही सिद्ध नहीं हो सकते।”

महर्षि चाणक्य ने कहा- अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः ”अर्थ से आशय है अभिलषित वस्तु। इस लोक (चा.सू. 7/29) की प्रगति अर्थ पर निर्भर है। जिसे प्राप्त करने की सब इच्छा करें, वह अर्थ है। क्यों? क्योंकि “सुखस्यमूलं धर्मः। धर्मस्य मूलम अर्थः” (वा.सू. 1-1, 2)

धन-धन्य, वस्त्र, गृह-भूमि, सम्पत्ति, पशु विद्या कला, औषि, गृहस्थ का सब सामान इन सबको ऋषियों ने ‘अर्थ’ में गिना है व कहा है कि मानव मात्र अपरिग्रह का सिद्धान्त जीवन व्यवहार में लाए ताकि सम्पदा का समान वितरण हो सके। आदमी धनोपार्जन हेतु पुरुषार्थ तो करे परन्तु निज के लिए व्यवस्था ब्राह्मोचित निर्वाह भर की रखें। अपने पास संग्रह न करे। थोड़ा विचार करे, आज की समस्याएँ जो पैदा हुई हैं, वह किस कारण पैदा हुई। इस शताब्दी में उपनिवेशवाद के समाप्त के बाद नार्थ ब्लॉक- साऊथ ब्लॉक विकसित देश व अविकसित विकासशील देशों के रूप में दो वर्गों में अर्थ सम्पदा का ध्रुवीकरण हुआ। कुछ देश धनी अत्यधिक धनी बने व कुछ निर्धन व अत्यन्त दीन-हीन स्थिति में। युद्ध लिप्सा से होकर विश्व भर में फैली अर्थिक समस्याएँ जिनमें अन्यान्य राष्ट्रों की सम्पदा- व्यवस्था व प्रजा का मनचाहा शोषण भी आ जाता है, ‘अर्थ’ के धर्म प्रधान न होने से पैदा हुई हैं। जो अर्थशास्त्र किसी जाति विशेष, धर्म विशेष या राष्ट्र विशेष का ही विचार करता है, वह अर्थशास्त्र धर्म पर आधारित नहीं है। जमींदारों के रूप में शोषक वर्ग के उभरने से लेकर मुनाफाखोरों-काला बाजारियों, दूसरों का शोषण करके धनी बनने वाले कारखानों के पुरुषार्थ के मूल में पूर्व जन्म के पुण्य नहीं अपितु अधर्म पर आधारित अर्थशास्त्र है। किसी भी समाज में इस प्रकार की विषमता-सामाजिक विग्रह, हिंसक विद्रोह व क्रांति को जन्म देती है। सीधा सच्चा अहिंसक रास्ता है- सम्पदा का धर्म प्रधान सुनियोजन।

यदि हम विगत दो शताब्दियों पर दृष्टि डालें तो देखते हैं कि मार्क्स का अर्थशास्त्र एक संजीवनी के रूप में आया व मार्क्स गरीबों के मसीहा बनकर आए परन्तु साम्यवाद का यह प्रयोग असफल रहा क्योंकि मार्क्सवाद में केन्द्रीय तंत्र ‘अर्थ’ प्रधान नहीं है। उसमें विनिमय की व्यवस्था मात्र है। मार्क्स ने मानव को अर्थमानव बना डाला जो बढ़ते औद्योगिकरण के साथ यंत्र मानव बनता चला गया। अभी तक व्यक्ति पूँजीवादी था अब समाज पूँजीवादी बन गया। कहाँ आया समाजवाद-साम्यवाद? इसी कारण पूर्वी ब्लॉक में सोवियत रूस में एक जबर्दस्त क्रांति हुई व देखते-देखते मार्क्स की स्थापनाएँ धूलिधूसरित हो गयीं।

जब तक मानव मात्र की समता व एकता की ‘अर्थ’ को धर्म प्रधान बनाते हुए व्यवस्था नहीं की जाती, सांस्औतिक रूप से आदर्श समाज की स्थापना नहीं होती। मनुष्य की मौलिक क्षमताओं को विकसित करने की विद्या है धर्म-अध्यात्म तथा उन क्षमताओं का उपार्जन-उपभोग हेतु सुनियोजन करने की विद्या है ‘अर्थ’। दोनों का युग्म जब तक नहीं होगा, तब तक सही समाजवाद नहीं आ सकता। आज की उपभोग प्रधान पूँजीवादी

पाश्चात्य संस्रौति की सारी पीड़ाओं का समाधान नहीं क्रांति है जिसकी दिशा हमें भारतीय संस्रौति से मिलती है।

भारतीय संस्रौति 'अर्थ' संचय का समाधान बताती हुई कहती है-समाज में जहाँ कहीं भी दरिद्रता के गड्डे हैं, उन्हें समर्थ व्यक्ति पाटें "दरिद्रान भर कौन्तय" (महाभारत)। धर्म प्रधान अर्थशास्त्र की स्थापना हेतु ऋषिगणों का कहना है- "शतहस्तं समाहरं सहस्रहस्तं संकिर" (अथर्ववेद 3/24/5) अर्थात् सैकड़ों हाथों से कमाओं किन्तु हजारों हाथों से बाँट दो। वितरण को, धन के प्रवाह की प्रक्रिया को अवरुद्ध मत करो। इसे विवेक सम्मत दान की पुण्य प्रक्रिया का आश्रय लेकर समाज को श्रेष्ठ बनाने वाले कार्यों में नियोजित कर दो। "सर्वो भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया" का दर्शन देने वाली भारतीय संस्रौति अर्थोपार्जन व उसकी सुरक्षा हेतु शील- संयम व उदारता को प्रमुख मानती है व इस प्रकार अर्थ का पुरुषार्थ धर्म के आधार पर करने की प्रेरणा देती है। अर्थ की सार्थकता कैसे हो, यह बताते हुए महर्षि शुक्राचार्य कहते हैं-

संरक्षयेत् औपणवत् काले दद्याद् विरक्तवत्। (शुक्रा.नीति)

अर्थात् "अर्थ का उपार्जन व संरक्षण तो महान औपण की तरह सावधानीपूर्वक किया जाए परन्तु जब उपयोग का समय आवे तो हृदय खोलकर विरक्त की तरह उदारता से उसे व्यय करना चाहिए।"

जिस प्रकार धर्ममय अर्थशास्त्र की ऊपर चर्चा की गयी, उसी प्रकार तीसरा पुरुषार्थ धर्ममय कामशास्त्र वैसा ही महत्वपूर्ण स्थान भारतीय संस्रौति में पाता है। श्रीमद्भगवद् गीता कहती है- "धर्मोऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतवर्षभः!" अर्थात् "जिस 'काम' का धर्म से विरोध नहीं है, वह मर्यादित 'काम' ही मेरा स्वरूप है।" भारतीय संस्रौति 'काम' को भी 'धर्म' के स्थान पर प्रतिष्ठित करती है व कहती है कि हमारे विषयभोग से सामाजिक व्यवस्था न बिगड़े समाज में अशान्ति न पैदा हो, समाज में दुःख-दैन्य, दरिद्रता न उत्पन्न हो। हमारा विषयोपभोग भी समाज के लिए सुखकर हो। 'काम' आखिर है क्या?

"काम्यते इति कामः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया 'काम' कहलाता है। जो भी शरीर व इन्द्रियों को सुख देने वाले ऐहलौकिक और पारलौकिक इच्छित पदार्थ हैं, उनको 'काम' की परिधि में गिना जाता है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है-कामः मनसो रेतः (काम चित्त का मन का बीज है) एवं यह 'काम' सुख का मुख्य साधन होने के कारण प्राणियों को अत्यन्त अभीष्ट है। वे यह भी कहते हैं इन सुखों को धर्मानुसार भोगने में कोई दोष नहीं है। 'काम' का औचित्य की मर्यादा में रहकर यदि पुरुषार्थ सम्पादन किया जाय तो वह उल्लास, दीर्घायुष्य चिरयौवन तथा आत्मिक आनन्द होता है तथा 'धर्म' प्रधान होने के कारण 'मोक्ष' का निमित्त कारण बनता है, यह भारतीय संस्रौति के मनीषी बताते आए हैं। फिर भोग भोगने में 'काम' का नियोजन होने के क्या परिणाम होते हैं, यह भी ऋषि हमें दिखाते हैं। ययाति की कथा सर्वविख्यात है जिसमें उसने लगातार पुत्रों की तरुणता लेकर, बार-बार भोग का प्रयोग करके देखा लेकिन अंत में बेचारा घबरा गया। एक सहस्रवर्ष पर्यन्त काम का अनुभव करके संसार भर के कामियों को सचेत वह कर गया।

भागवतकार ययाति से कहलवाता है

यत् पृथिव्या ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।

न दुह्यन्ति मनः प्रीति पुंसः कामस्तस्य ते॥ (भाग 8-19-13)

“पृथ्वी में जितने भी धनधान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब मिल करके भी उस पुरुष के मन को संतुष्ट नहीं कर सकते, जो कि कामनाओं के प्रहार से जर्जरित हो रहा है।”

इन सभी उद्धरणों से मन का असमंजस स्वाभाविक है कि विषयों का उपभोग धर्ममय तथा ‘मोक्ष’ प्राप्ति का साधन कब बनता है तथा कब वह मनुष्य के लिए अधोगामी बन जाता है? सामान्य व्यक्ति का शास्त्रवचनों तथा लौकिक जीवन में संव्याप्त मान्यताओं से भ्रमित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। कहीं कोई महामण्डलेश्वर ब्रह्मचर्य की महत्ता पर ढेरों वक्तुताएँ देते देखे जाते हैं किन्तु उनके जीवन में इन्द्रिय संयम सर्वाधिक दिखाई देता है। चूँकि ‘काम’ को गोपनीय प्रसंग माना गया है अतः पारस्परिक चर्चा तक हमारे समाज में अश्लील मानी जाती है अतः ‘काम’ संबंधी विऔतियाँ समाजगत व मनोगत दोनों ही क्षेत्रों में बड़े व्यापक स्तर पर फैली देखी जाती हैं। इसलिए ‘काम’ के परिष्कृत रूप की व्याख्या यहाँ अनिवार्य है।

‘काम’ प्रक्रिया जो सृष्टि के मूल कारण प्रऔति पुरुष के मिलन से लेकर दाम्पत्य जीवन बसाने तक चली आ रही है, विश्व की एक ऐसी अनिवार्यता है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ‘काम’ मात्र कामसेवन ही नहीं है, अपितु विनोद उल्लास व आनन्द का नाम है जो व्यक्ति की प्राण विद्युत के माध्यम से उसके व्यक्तित्व से परिलक्षित होता है। यह पुरुषार्थों का प्राण व मानव मात्र का पौरुष रूपी वह गुण है जो व्यक्ति की दैनन्दिन जीवनचर्या में उत्साह स्फूर्ति मानसिक समस्वर्ता, प्रशासकीय सुव्यवस्था व शौर्य जैसी अभिव्यक्तियों के रूप में परिलक्षित होता है। जब यही कामतत्व विऔत हो जाता है तो विषयोपभोग से लेकर जीवनीशक्ति के रूप में देखा जाता है। कुदृष्टि-कामुकता कामतत्व की विऔति का प्रमुख निमित्तकारण है। स्वच्छन्द यौनाचार से लेकर अश्लील प्रदर्शन, कला के माध्यम से यौन कुण्ठाओं की व नारी के रमणी भोग्या रूप की अभिव्यक्ति तथा सामूहिक बलात्कारों से लेकर कुरुचिपूर्ण साहित्य का सृजन इसी विऔत रूप की अभिव्यक्तियाँ हैं।

सन्तति उत्पादन हेतु यौनाचार काम की एकांगी व्याख्या है। भौतिकवादी प्रतिपादनों में फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिकों ने तो ‘काम’ को मानवी चेतना की मूल प्रवृत्ति ही ठहरा दिया है। कामुकता के धरातल पर ला पटकने के कारण ही ‘काम’ का वह स्वरूप लुप्त हो चला है, जो मनुष्य को कभी श्रेष्ठ बनाता था। ‘काम’ प्राणी के अंतराल में कार्य करने वाली एक ऐसी उल्लास भरी वृत्ति का नाम है जो सदा उसे आगे बढ़ने-ऊँचा उठने के लिए प्रेरित करती है। व्यक्ति की जिलीविधा, संकल्पशक्ति, असंभव दीख पड़ने वाली उपलब्धियाँ, साहसिक प्रयासों व प्रचण्ड पुरुषार्थ के रूप में वही उभरती दिखाई देती है। इसी शक्ति के कारण प्राणी उछलते, फुदकते तथा उमंग, उत्साह से भरे रहते हैं। इसी का एक छोटा रूप यौनाचार भी है। संतान, सतेज और निरोग किस प्रकार हो उसका ठीक-ठीक पोषण कैसे हो, यह सारे पक्ष धर्ममय काम के अन्तर्गत आते हैं।

यौनाचार के आकर्षण में प्रऔति प्रेरणा का एक मात्र लक्ष्य यही है कि सृष्टि का प्रजनन क्रम चलता रहे। किन्तु उसे यौनतृषित का आधार मान लेना एक भूल है। आज मनुष्य ही इस क्षेत्र में अन्य जीवधारियों की तुलना में अधिक स्वेच्छाचारी बन गया है, यह एक विडम्बना है।

काम भाव संवेदनाओं का परिष्कृत रूप है जो स्वस्थ मनोरंजन के रूप में तो, कभी भक्ति या प्रेम के रूप में कभी कला की उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति के रूप में तो कभी प्रशासकीय व्यवस्था व कुशलता के रूप में सामने आता है। समाज का क्षत्रिय कहा जाने वाला वर्ग काम रूपी पुरुषार्थ का उपार्जन ही करता था। लोकरंजन हेतु वही स्वस्थ प्रतिस्पर्धाओं, कीड़ समागमों, शौर्य के प्रदर्शनों की व्यवस्था भी करता था। राज्य व्यवस्था भी ऐसे व्यक्ति सँभालते थे जिनका कामतत्व धर्ममय हो। कालान्तर में क्षत्रिय वर्ग- जाति बन गया व यौनाचार काम का विऔत रूप बनकर क्षत्रियों की सबसे बड़ी दुर्बलता बनकर सामने आया।

‘काम’ धर्ममय तब बनता है जब काम बीज का ज्ञान बीज के रूप में परिष्कार किया जाता है। इन्द्रिय संयम से उसका आरंभ तो होता है किन्तु अंत होता है ब्रह्म से एकाकार होकर-‘मोक्ष’ में। इन्द्रिय संयम भी दमन प्रधान नहीं कामनाओं के परिष्कार व भावनाओं के ऊर्धीकरण का मार्ग है। ब्रह्मचर्य का सुन्दरतम स्वरूप आदर्शी व सिद्धान्तों के प्रति प्रगाढ़निष्ठा के रूप में दिखाई देता है। इस तथ्य से अवगत व इसकी अनुभूति हो जाने पर व्यक्ति यौन आकर्षणों को तुच्छ मानते हुए ‘काम’ को ‘मोक्ष’ में परिणत कर लेता है। वस्तुतः ‘काम’ के स्थूल आकर्षण का आध्यात्मिक प्रेम में परिवर्तन ही ऊर्ध्वगमन है। प्रतिमा का जागरण, ओजस्विता का प्रकटीकरण, हृदय की विशालता का औदार्य के रूप में दिखाई पड़ना ‘काम’ की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है। ‘मोक्ष’ की, जीवन बंधनों से मुक्ति की, ईश्वरीय सान्निध्य के दिव्य रसास्वदन की भूमिका यही से बनती है। अध्यात्म सम्मत काम विज्ञान ही आज की भोगप्रधान का उत्तर हो सकता है, इसमें किसी को संशय नहीं होना चाहिए।

### संदर्भ

- आचार्य, श्रीराम शर्मा - तत्त्वदृष्टि से बन्धन मुक्ति  
 आचार्य, श्रीराम शर्मा - आध्यात्मिक काम विज्ञान  
 आचार्य, श्रीराम शर्मा - भव बंधनों से मुक्त हों  
 आचार्य, श्रीराम शर्मा - धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं पूरक